विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
तमिल संगमकाल और उसका साहित्य
यतीन्द्र तिवाड़ी

पृष्ठ क्र. 3
भारतीय स्थापत्य और आस्था
रितु मिश्र

पृष्ठ क्र. 4-5
भारतीय ज्ञान परंपरा के प्रतिमान
राजेश्वर त्रिवेदी

पृष्ठ क्र. 6-7
समुद्री लहरों का वैभवशाली अतीत
मनीष रत्नपारखी

पृष्ठ क्र. 8
संस्कृति के चार अध्याय
मिथिलेश यादव

तमिल संगमकाल और उसका साहित्य

यतीन्द्र तिवाड़ी

दक्षिण भारत की सर्वाधिक प्राचीन भाषा संभवतः तमिल थी। विद्वानों की राय है कि स्थानीय भाषाओं के रूप में यहाँ तेलगु, मलयालम और कन्नड़ भाषाएँ भी प्रयोग में आती रहीं हैं। वैदिक संस्कृति से सम्पर्क के बाद यहाँ संस्कृत भाषा के अनेक शब्द अपनाए गए और ई.पू. तीसरी शताब्दी में चौवालिस वर्णों पर आधारित एक लिपि का विकास किया गया। संगमकालीन साहित्य इसी लिपि में लिखा गया। पुरातत्वविदों को सत्तर से भी ज्यादा ब्राह्मी लिपि (जो बायीं ओर से दायीं ओर लिखी जाती है) में लिखे अभिलेख मदुरा और उसके आस-पास की गुफाओं में प्राप्त हुए हैं। इनमें तमिल के साथ-साथ प्राकृत भाषा के भी कुछ शब्दों का प्रयोग किया गया है। सुदूर दक्षिण के जन जीवन पर पहले-पहल संगम साहित्य से ही स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। ई. सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों के दौरान तमिल अकादमियों में संकलित साहित्य को संगम साहित्य कहा जाता है। संगम तमिल कवियों का संघ अथवा मण्डल था। संगम कवियों को राज्य की सहायता प्राप्त थी जिसके कारण संगम में विशाल साहित्य की रचना हुई। यह मानना सही है कि संगम साहित्य का विशाल भण्डार रहा होगा। जो साहित्य हमें आज उपलब्ध है वह उसका एक हिस्सा ही है।

संगमकाल दक्षिण भारत (कृष्णा एवं तुंगभद्रा नदी के दक्षिण में स्थित क्षेत्र) के प्राचीन इतिहास का एक कालखण्ड है। यह कालखण्ड ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी तक पसरा हुआ है। यह नाम 'संगम साहित्य' के नाम पर पड़ा है। तमिल साहित्य, संस्कृत साहित्य के साथ, प्राचीन हिंदू संस्कृति के बारे में जानकारी का एक प्रमुख स्रोत है। तमिलकम के प्राचीन महाकाव्यों में अगथियार, इरावन और पतंजलि जैसे हिंदू धर्मग्रंथों में विभिन्न ऐतिहासिक आंकड़ों की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है। प्राचीन तमिल साहित्य में पेरुमल, मुरुगन और कोटरावई जैसे स्वदेशी देवताओं का उल्लेख है। तोलकाप्पियम ने शिव को ब्राह्मण, मुरुगन को सेयोन (लाल वाला) और कोटरावई के रूप में प्रतिष्ठित किया। जैसे सूखी भूमि में देवी की पूजा की जाती है। यह साहित्य इतिहास के झरने के रूप में कार्य करता है, जैसा कि पुंडरिकाक्षन पेरुमल मंदिर, नटराज मंदिर, चिदंबरम, रंगनाथ स्वामी मंदिर, श्रीरंगम, तिरुपति, मीनाक्षी मंदिर, मदुरै कूडल अज़गर मंदिर जैसे प्रमुख मंदिरों पर शिलालेखों द्वारा संदर्भित है।

तमिल संगमकाल के दौरान दक्षिण भारत के सिरे पर स्थित, चेरा वंश, चोल वंश और पांडियन वंश द्वारा शासित संगम से अभिप्राय तमिल कवियों के संगम या सम्मलेन से है जो संभवतः किन्हीं प्रमुखों या राजाओं के संरक्षण में ही आयोजित होता था। आठवीं सदी ई. में तीन संगमों का वर्णन मिलता है। पाण्ड्य राजाओं द्वारा इन संगमों को शाही संरक्षण प्रदान किया गया।

तमिल किंवदंतियों के अनुसार, प्राचीन दक्षिण भारत में तीन संगमों (तमिल कवियों का समागम) का आयोजन किया गया था, जिसे 'मुच्चंगम' कहा जाता था। तीन संगम ये थे- प्रमुख संगम, मध्य संगम और अंतिम संगम। इतिहासकार तीसरे संगम काल को ही 'संगम काल' कहते हैं और पहले दो संगमों को 'पौराणिक' मानते हैं। कहा जाता है कि प्रथम संगम मदुरै में आयोजित किया गया था। इस संगम में देवता और महान संत सम्मिलित हुए थे। किन्तु इस संगम का कोई साहित्यिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। द्वितीय संगम कपाटपुरम् में आयोजित किया गया था, और इस संगम का 'तोलकाप्पियम्' नामक एकमात्र ग्रंथ उपलब्ध है जो तमिल व्याकरण ग्रन्थ है। तृतीय संगम भी मदुरै में हुआ था। इस संगम के अधिकांश ग्रंथ नष्ट हो गए थे। इनमें से कुछ कृतियाँ समूह ग्रंथों या महाकाव्यों के रूप में

उपलब्ध है। दक्षिण भारत में 600 ई.पू. से 300 ई.पू. के बीच की अवधि में पाण्ड्य, चोल और चेर के तीन तमिल राजवंशों का शासन था। संगम साहित्य तमिल भाषा में पाँचवीं सदी ईसा पूर्व से दूसरी सदी के मध्य लिखा गया साहित्य है। इसकी रचना और संग्रहण पाण्ड्य शासकों द्वारा मदुरै में आयोजित तीन संगम के दौरान हुई। संपूर्ण संगम साहित्य में 473 कवियों की 2381 रचनाएँ हैं। इन कवियों में से 102 अनाम कवि हैं। यह साहित्य प्राचीन तमिल समाज की सांस्कृतिक, साहित्यिक, धार्मिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक अध्ययन के लिए बेहद उपयोगी हैं। इसने बाद के साहित्यिक रूढ़ियों को बहुत प्रभावित किया है। दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास के लिये संगम साहित्य की उपयोगिता अनन्य है। तमिल ईसा काल के आरम्भ से ही लिखित भाषा के रूप में आ गयी थी। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि अधिकांश संगम साहित्य की रचना ईसा काल की आरम्भिक चार शताब्दियों में हुई, यद्यपि उसका अंतिम रूप से संकलन 600 ईसवीं तक हुआ। राजाओं एवं सामान्तों के आश्रयाधीन सभाओं में एकत्र हुए कवियों ने तीन से चार शताब्दियों की अवधि में संगम साहित्य की रचना की। कवि, चारण, लेखक और रचनाकार दक्षिणी भारत के विभिन्न भागों से मदुरै आए। इनकी सभाओं को 'संगम' और इन सभाओं में रचित साहित्य को 'संगम साहित्य' कहा गया। इसमें तिरूवल्लूवर जैसे तमिल संतों की कृतियाँ 'कुराल' उल्लेखनीय हैं जिनका बाद में अनेक भाषाओं में अनुवाद किया गया। संगम साहित्य अनेक वीरों और वीरांगनाओं की प्रशंसा में रचित अनेक छोटी–बड़ी कविताओं का संग्रह है। ये कविताएँ धर्मसम्बन्धी नहीं है तथा ये उच्चकोटि की रचनाएँ हैं। ऐसी तीन संगम सभाएँ आयोजित हुईं। प्रथम संगम में संकलित कविताएँ गुम हो गईं। दूसरे भाग की 2000 कविताएँ संकलित की गई हैं।

संगम साहित्य में 30,000 पंक्तियों की कविताएँ शामिल हैं। इन्हें आठ संग्रहों में संकलित किया गया, जिन्हें 'एट्टूतोकोई' कहा गया। इनके दो मुख्य समूह हैं– पाटिनेनकिल कनाकू (18 निचले संग्रह) और पट्टूपट्टू (10 गीत)। पहले समूह को सामान्यतः दूसरे से अधिक पुराना और अपेक्षाकृत अधिक ऐतिहासिक माना जाता है। तिरुवल्लुवर की कृति 'कुराल' को तीन भागों में बाँटा गया है। पहला भाग महाकाव्य, दूसरा भाग राजनीति और शासन तथा तीसरा भाग प्रेम विषयक है।

संगम साहित्य के अलावा एक रचना 'तोलक्कापियम' भी है। इस रचना का विषय व्याकरण और काव्य है। इसके अतिरिक्त 'शिलाप्पदीकारम' तथा 'मणिमेकलई' नामक दो महाकाव्य हैं, जिनकी रचना लगभग छठी ईसवीं में की गई। पहला महाकाव्य तमिल साहित्य का सर्वोत्तम रत्न माना जाता है। प्रेमगाथा को लेकर इसकी रचना की गई है। दूसरा महाकाव्य मदुरै के अनाज व्यापारी ने लिखा था। इस प्रकार दोनों महाकाव्यों में दूसरी सदी से छठी सदी तक तमिल समाज के सामाजिक, आर्थिक जीवन का चित्राण प्राप्त होता है।

शिक्षा और साहित्य की दृष्टि से संगम युग स्वर्णिम काल कहा जाता है। इस समय समाज में शिक्षा का न केवल प्रचलन था बल्कि ज्ञान जगत के सभी विषय जैसे विज्ञान, कला, साहित्य, व्याकरण, गणित और ज्योतिष, चित्रकला और मूर्तिकला आदि का समुचित ज्ञान दिया जाता था। शिक्षा देने के लिए मन्दिरों को चुना गया था और शिक्षक को 'कणकट्टम' तथा शिक्षा पाने वाले 'पिल्लै' कहा जाता था। विद्यार्थी शिक्षा पूरी करने के बाद शिक्षकों को 'गुरु दक्षिणा' देते थे। संगम काल में दक्षिण भारत पर तीन राजवंशों ने शासन किया– चेर, चोल तथा पाण्ड्य राजवंश पाण्ड्य। संगम काल के साहित्य से इन राज्यों के बारे में जानकारी मिलती है। चेरों ने उस क्षेत्र पर शासन किया जो वर्तमान समय में केरल के मध्य और उत्तरी भाग तथा तमिलनाडु का कोंगु क्षेत्र है। उनकी राजधानी वांजि थी। पश्चिमी तट, मुसिरी और टोंडी के बंदरगाह उनके नियंत्रण में थे। चेरों का प्रतीक चिह्न 'धनुष–बाण' था। ईसा की पहली शताब्दी के पुगलुर शिलालेख से चेर शासकों की तीन पीढ़ियों की जानकारी मिलती है। चेर राजा रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार से लाभ प्राप्त करते थे। कहा जाता है कि उन्होंने ऑगस्टस का एक मंदिर भी बनवाया गया था। चेरों के सबसे महान राजा शेनगुटटवन (सेंगुत्तुवन) थे जिन्हें 'लाल चेर' या 'अच्छे चेर' भी कहा जाता था। शेनगुटटवन ने चेर राज्य में पत्तिनी (पत्नी) पूजा प्रारम्भ की। इसे कण्णगी पूजा भी कहा गया। वह दक्षिण भारत से चीन में दूत भेजने वाले पहले भारतीय राजा थे। चोलों के नियंत्रण में वह क्षेत्र था जो वर्तमान तमिलनाडु का मध्य और उत्तरी भाग है। उनके शासन का मुख्य क्षेत्र कावेरी डेल्टा था जिसे बाद में 'चोलमण्डलम' के नाम से जाना जाता था। चोलों की राजधानी उरैयूर (तिरुचिरापल्ली के पास) थी। बाद में करिकाल ने कावेरीपत्तनम या पुहार नगर की स्थापना कर उसे अपनी राजधानी बनाया। इनका प्रतीक चिह्न बाघ था।

संगम साहित्य की विभिन्न कविताओं में वेण्णि के युद्ध का उल्लेख मिलता है जिसमें करिकाल ने पाण्ड्य तथा चेर सहित ग्यारह राजाओं को पराजित किया था। करिकाल की सैन्य उपलब्धियों ने उन्हें पूरे तमिल क्षेत्र का अधिपति बना दिया। करिकाल ने अपने शासनकाल में व्यापार और वाणिज्य क्षेत्र को सम्पन्न बनाया। उसने पुहार या कावेरीपत्तनम शहर की स्थापना की और अपनी राजधानी उरैपुर से कावेरीपत्तनम में स्थानांतरित की। इसके अतिरिक्त कावेरी नदी के किनारे 160 कि.मी. लम्बा बांध बनवाया। पाण्ड्यों ने मदुरै से शासन किया। पाण्ड्य वंश का प्रतीक चिह्न 'मछली' थी। पाण्ड्यों ने तमिल संगमों का संरक्षण किया और संगम कविताओं के संकलन की सुविधा प्रदान की। पाण्ड्यों का पहला उल्लेख मेगास्थनीज ने किया है। तीसरी शताब्दी के अन्त तक संगमकालीन व्यवस्था का धीरे–धीरे पतन होता गया। 300 ई.पू. से 600 ई.पू. के बीच कालभ्रस ने तमिल देश पर कब्ज़ा कर लिया। इस अवधि को पहले के इतिहासकारों ने 'अंतरिम युग' या 'अंधकार युग' कहा है।

भारतीय स्थापत्य और आस्था

रितु मिश्र

भारतीय वास्तु की विशेषता यहाँ की दीवारों के उत्कृष्ट और प्रचुर अलंकरण में है। भित्तिचित्रों और मूर्तियों की योजना, जिसमें अलंकरण के अतिरिक्त अपने विषय के गंभीर भाव भी व्यक्त होते हैं, भवन को बाहर से कभी कभी पूर्णतया लपेट लेती है। इनमें वास्तु का जीवन से सम्बन्ध क्या, वास्तव में आध्यात्मिक जीवन ही अंकित है। न्यूनाधिक उभार में उत्कीर्ण अपने अलौकिक कृत्यों में लगे हुए देश भर के देवी देवता, तथा युगों पुराना पौराणिक गाथाएँ, मूर्तिकला को प्रतीक बनाकर दर्शकों के सम्मुख अत्यंत रोचक कथाओं और मनोहर चित्रों की एक पुस्तक सी खोल देती हैं।

'वास्तु' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वस्' धातु से हुई है जिसका अर्थ 'बसना' होता है। चूँकि बसने के लिये भवन की आवश्यकता होती है अतः 'वास्तु' का अर्थ 'रहने हेतु भवन' है। 'वस्' धातु से ही वास, आवास, निवास, बसति, बस्ती आदि शब्द बने हैं। सीमित आवश्यकताओं में विश्वास रखनेवाले, अपने कृषिकर्म और आश्रमजीवन से संतुष्ट आर्य प्रायः ग्रामवासी थे और शायद इसीलिए, अपने परिपक्व विचारों के अनुरूप ही, समसामयिक सिंधु घाटी सभ्यता के विलासी भौतिक जीवन की चकाचौंध से अप्रभावित रहे। कुछ भी हो, उनके अस्थायी निवासों से ही बाद के भारतीय वास्तु का जन्म हुआ प्रतीत होता है। इसका आधार धरती में और विकास वृक्षों में हुआ, जैसा वैदिक वाङ्मय में महावन, तोरण, गोपुर आदि के उल्लेखों से विदित होता है। अतरू यदि उस अस्थायी रचनाकाल की कोई स्मारक कृति आज देखने को नहीं मिलती, तो कोई आश्चर्य नहीं। धीरे–धीरे नगरों की भी रचना हुई और स्थायी निवास भी बने।

बिहार में मगध की राजधानी राजगृह शायद 8वीं शती ईसा पूर्व में उन्नति के शिखर पर थीं। यह भी पता लगता है कि भवन आदिकालीन झोपड़ियों के नमूने पर प्रायः गोल ही बना करते थे। दीवारों में कच्ची ईंटें भी लगने लगी थीं और चौकोर दरवाजे खिड़कियाँ बनने लगी थीं। बौद्ध लेखक धम्मपाल के अनुसार, पाँचवीं शती ईसा पूर्व में महागोविन्द नामक स्थपति ने उत्तर भारत की अनेक राजधानियों के विन्यास तैयार किए थे। चौकोर नगरियाँ बीचोबीच दो मुख्य सड़कें बनाकर चार–चार भागों में बाँटी गई थीं। एक भाग में राजमहल होते थे, जिनका विस्तृत वर्णन भी मिलता है। सड़कों के चारों सिरों पर नगरद्वार थे। मौर्यकाल के अनेक नगर कपिलवस्तु, कुशीनगर, उरुबिल्व आदि एक ही नमूने के थे, यह इनके नगर द्वारों से प्रकट होता है। जगह–जगह पर बाहर निकले हुए छज्जों, स्तम्भों से अलंकृत गवाक्षों, जँगलों और कटहरों से बौद्धकालीन पवित्र नगरियों की भावुकता का आभास मिलता है।

राज्य का आश्रय पाकर अनेक स्तूपों, चौत्यों, बिहारों, स्तम्भों, तोरणों और गुफामंदिरों में वास्तुकला का चरम विकास हुआ। तत्कालीन वास्तुकौशल के उत्कृष्ट उदाहरण पत्थर और ईंट के साथ–साथ लकड़ी पर भी मिलते हैं, जिनके विषय में सर जॉन मार्शल ने भारत का पुरातात्विक सर्वेक्षण में लिखा है कि 'वे तत्कालीन कृतियों की अद्वितीय सूक्ष्मता और पूर्णता का दिग्दर्शन कराते हैं। उनके कारीगर आज भी यदि संसार में आ सकते, तो अपनी कला के क्षेत्र में कुछ विशेष सीखने योग्य शायद न पाते'। साँची, भरहुत, कुशीनगर, बेसनगर (विदिशा), तिगावाँ (जबलपुर), उदयगिरि, प्रयाग, कार्ली (मुम्बई), अजन्ता, इलोरा, विदिशा, अमरावती, नासिक, जुनार (पूना), कन्हेरी, भुज, कोंडेन, गांधार (वर्तमान कंधार–अफगानिस्तान), तक्षशिला पश्चिमोत्तर सीमान्त में चौथी शती ई.पू. से चौथी शती ई. तक की वास्तुकृतियाँ कला की दृष्टि से अनूठी हैं। दक्षिण भारत में गुंतूपल्ले (कृष्ण जिला) और शंकरन् पहाड़ी (विजगापट्टम् जिला) में शैलकृत्त वास्तु के दर्शन होते हैं। साँची, नालन्दा और सारनाथ में अपेक्षाकृत बाद की वास्तुकृतियाँ हैं।

पाँचवीं शती से ईंट का प्रयोग होने लगा। उसी समय से ब्राह्मण प्रभाव भी प्रकट हुआ। तत्कालीन ब्राह्मण मंदिरों में भीटागाँव (कानपुर जिला), बुधरामऊ (फतेहपुर जिला), सीरपुर और खरोद (रायपुर जिला), तथा तेर (शोलापुर के निकट) के मंदिरों की शृंखला उल्लेखनीय है। भीटागाँव का मंदिर, जो शायद सबसे प्राचीन है, 36 फुट वर्ग के ऊँचे चबूतरे पर बुर्ज की भाँति 70 फुट ऊँचा खड़ा है। बुधरामऊ का मंदिर भी ऐसा ही है। अन्य हिंदू मंदिरों की भाँति इनमें मण्डप आदि नहीं है, केवल गर्भगृह हैं। भीतर दीवारें यद्यपि सादी हैं, तथापि उनमें पट्टे, किंगरियाँ, दिल्हे, आले आदि, रचना की कुछ विशिष्टताएँ इमारतों की प्राचीनता की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इनके विभिन्न भागों का अनुपात सुंदर है और वास्तु प्रभाव कौशलपूर्ण। आलों में बौद्धचौत्यों की डाटों का प्रभाव अवश्य पड़ा दिखाई पड़ता है। इनकी शैलियों का अनुकरण शताब्दियों बाद बननेवाले मंदिरों में भी हुआ है। हिंदू वास्तुकौशल का विस्तार महलों, समाधियों, दुर्गों, बावड़ियों और घाटों में भी हुआ, किन्तु देश भर में बिखरे मंदिरों में यह विशेष मुखर हुआ है।

भारतीय ज्ञान परंपरा के प्रतिमान

राजेश्वर त्रिवेदी

विश्व की सबसे प्राचीन भारतीय सनातन परंपरा को जिन ऋषि, महर्षि, आचार्य व असंख्य मेधावान महापुरुषों ने अपनी साधना, तप, ध्यान व उससे अर्जित ज्ञान से पल्लवित किया वह अद्वितीय है। सनातन की यह शाश्वत परंपरा जिसका न कोई आदि है और न अन्त तथा इसमें शामिल ज्ञान की अविचल धारा ने उत्तरोत्तर संपूर्ण विश्व को नयी दिशाएँ प्रदान की हैं। जैसा कि विदित है ज्ञान को भारत में प्राचीन समय से ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है, प्राचीन काल से लेकर आज के आधुनिक समय तक ऐसे असंख्य क्षेत्र हैं जिनमें इसी भारतीय ज्ञान परंपरा से कई नवीन प्रतिमान स्थापित हुए हैं। भारत के विषय में लिखित साक्ष्य ऋग्वैदिक काल से मिलता है और ऋग्वेद इस संदर्भ में प्रथम ग्रंथ है। ऋग्वेद विश्व की प्राचीनतम पुस्तक है जो प्राचीन भारतीय आर्यों की राजनीतिक व्यवस्था के साथ ही उनके ज्ञान–विज्ञान, दर्शन, धर्म, कला एवं साहित्यिक उपलब्धियों का एकमात्र महत्वपूर्ण स्रोत है। भौतिक जगत को समझने की चेष्टा सर्वप्रथम प्राचीन आर्यों ने ही आरम्भ की थी। ऋग्वेद ग्रंथ के 'विश्वकर्मा सूक्त' में इस प्रकार के प्रश्न उठाये गये है कि 'सृष्टि का अधिष्ठान क्या है? इसका आरंभ कैसे हुआ? किस पदार्थ से यह जगत् बना? इसका रचयिता कौन है?' इन प्रश्नों में से कुछ का उत्तर तो अभी आधुनिक भौतिकी को भी देना बाकी है। इसी प्रकार ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी इस बात का संकेत किया गया है कि सृष्टि के आरम्भ में गहन अथाह जल था और आधुनिक विज्ञान का भी इस विषय में यही मानना है। वैदिक काल के ऋषियों ने अनेक शास्त्रों, विज्ञानों एवं वेदांगों की नींव डाली थी। भारत के प्राचीन ऋषि–मुनियों ने अपने समय से बहुत आगे की कल्पनाओं और विचारों को साकार किया है। उन्होंने हजारों साल पहले ही प्रकृति से जुड़े कई रहस्य उजागर करने के साथ कई आविष्कार किये और युक्तियाँ बतायीं। उनके इसी विलक्षण ज्ञान के आगे आधुनिक विज्ञान भी नतमस्तक होता है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित वैज्ञानिक सूत्र बहुत ही सहज और सारगर्भित रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। उस काल में जहाँ जन सामान्य के जीवन को बेहतर बनाने के लिए शास्त्र लिखे गये तो विज्ञान और गणित के गूढ़तम रहस्यों के जवाब देने के लिए भी शास्त्र लिखे गये। आधुनिक भारतीय जनसमाज के मन मस्तिष्क में कहीं ना कहीं यह बात मौजूद है कि बहुतायत में वैज्ञानिक आविष्कार पश्चिमी देशों की देन है उनके लिए यह जानना आवश्यक है कि पश्चिम के अधिकांश वैज्ञानिकों तथा आविष्कारकों ने भारतीय वैदिक विज्ञान की महत्ता को स्वीकार किया है। पश्चिम के राइट बंधुओं से हजारों वर्ष पूर्व महर्षि भारद्वाज ने विमान की कल्पना करते हुए वैमानिकी शास्त्र रचा जो आज के संदर्भों में भी सामयिक है। 'पुष्पक' तथा अन्य विमानों के रामायण में वर्णन कोई कोरी कल्पना नहीं है। ताजा वैज्ञानिक अनुसंधान ने भी तय किया है कि रामायण काल में विमान की प्रौद्योगिकी इतनी विकसित थी जिसे आज समझ पाना भी कठिन है। मय विश्वकर्मा ने ब्रह्मा से वैमानिकी विद्या सीखी और पुष्पक विमान बनाया। पुष्पक विमान की पद्धति का विस्तृत ब्यौरा महर्षि भारद्वाज लिखित पुस्तक यंत्र सर्वस्व में भी किया गया है। इस पुस्तक के 40 अध्याय में से एक अध्याय वैमानिकी शास्त्र अभी भी उपलब्ध है। इसमें 25 तरह के विमानों का विवरण है। इस पुस्तक में वर्णित कुछ शब्द जैसे विश्व क्रिया दर्पण आज के रडार जैसे यंत्रों की कार्यप्रणाली का रूपक है। आधुनिक विज्ञान में जॉन डाल्टन के परमाणुवाद का योगदान माना जाता है। परंतु भारत के महर्षि कणाद ने डाल्टन से दो हजार वर्ष पूर्व ही परमाणुवाद प्रतिष्ठित कर चुके थे। भागवत पुराण में भी परमाणु की सही–सही परिभाषा दी गयी है। पुराणों में जल में अग्नि का वास होने का उल्लेख है। इससे जल से ऊर्जा प्राप्त होने ही का आशय नहीं बल्कि वरुण (जल) के यौगिक होने का भी संदेश मिलता है। आधुनिक भाषा में जल को हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का यौगिक माना जाता है। पुराण की भाषा में जल, पृथ्वी तत्व हाइड्रोजन और अग्नि तत्व ऑक्सीजन का यौगिक है। न्यूटन से कई सदियों पहले भारत के खगोल विज्ञानी भास्कराचार्य ने यह प्रतिपादित कर दिया था कि पृथ्वी आकाशी पदार्थों को एक विशेष शक्ति से अपनी तरफ आकर्षित करती है। उन्होंने ही गणितीय गणना में शून्य को प्रतिपादित किया था। पश्चिमी खगोल विज्ञानी कॉपरनिकस से हजार वर्ष पूर्व भारतीय खगोलशास्त्री आर्यभट्ट ने पृथ्वी की आकृति व इसकी अपनी धुरी पर घूमने की पुष्टि कर दी थी। वैदिक युग में सुश्रुत जैसे ऋषि चिकित्सक सफल शल्य चिकित्सा करते थे और आधुनिक विज्ञान ने इसको कुछ सदी पहले ही पुनः आविष्कृत किया। गणित विज्ञान, खगोल विज्ञान, धातु विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, ऊर्जा एवं पृथ्वी के जीवन सम्बन्धी ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिससे सिद्ध होता है कि सनातन वैदिक ज्ञान कितना विकसित था, जिसके मूल का उपयोग कर आज के आधुनिक विज्ञान के नाम पर पश्चिमी देशों द्वारा वैश्विक स्तर पर फैलाया गया है। हमारे ऋषि–मुनियों ने ध्यान और मोक्ष की गहरी अवस्था में ब्रह्म, ब्रह्मांड और आत्मा के रहस्य को जानकर उसे स्पष्ट तौर पर व्यक्त किया था। प्राचीन भारत में विज्ञान सहित अनेक विषयों पर अनेक शोध हुए हमारे शास्त्रों के उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय ऋषि–मुनि महान वैज्ञानिक व शोधकर्ता थे। वेद, उपनिषद, भागवत, गीता आदि ग्रंथों के अनेक सूत्र से आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले लोग प्रेरित होते रहे हैं। प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा को निष्पक्ष ढंग से देखने पर यह ज्ञात होता कि भारत विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में अति उन्नत था। विज्ञान का

विकास भारत में वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो जाता है। वेदों में गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद व कृषि सहित अनेक विज्ञानों के विकसित होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। वैदिक सभ्यता यज्ञ प्रधान रही है। विभिन्न उद्देश्यों से लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युत्थान हेतु अनेक प्रकार के यज्ञ नियमित रूप से होते रहते थे। इससे विशिष्ट प्रकार की ज्यामितीय आकार की वेदिकाएँ बनती थीं। यज्ञों के लिए मुहूर्त निश्चित होते थे। यज्ञों की सुव्यवस्था एवं सफल संपादन के लिए गणित, ज्यामिति और ज्योतिष तथा खगोल विज्ञान विकसित हुए। गणित विशेषतः उसकी दार्शनिक अंक प्रणाली और शून्य का आविष्कार विश्व को भारत की सबसे महत्वपूर्ण देन स्वीकार की जाती है। वास्तव में वैदिक युग को ज्ञान–विज्ञान की अनेक शाखाओं को विकसित करने का श्रेय है। वैदिक ऋषियों ने अपने तपोवन में विज्ञान के विविध रूपों का अनुसंधान किया था। उन्होंने प्रकृति पदार्थ के रहस्यों को वैज्ञानिक ढंग से प्रकट किया। वैज्ञानिक अनुसंधान ही उनकी रीति–नीति आधुनिक विज्ञान की संकीर्ण सीमाओं में ना बंधते हुए भी उच्चस्तरीय, आकर्षक व सम्मोहक है। वैदिक ऋषियों के विज्ञान की विविध धाराएँ आयुर्वेद, भौतिक, गणित, रसायन, वनस्पति, जीव व भूगर्भ विज्ञान तथा कृषि व शिल्प आदि के रूप में प्रकट हुई है। भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परंपरा में विक्रम सम्वत् पंचांग रचना का दिन माना जाता है। महान गणितज्ञ भास्कराचार्य ने इसी दिन सूर्योदय से सूर्यास्त तक दिन, महीना और वर्ष की गणना कर पंचांग की रचना की थी। विक्रम सम्वत् संपूर्ण धरा की प्रकृति, खगोल सिद्धांतों और ग्रह–नक्षत्रों से जुड़ा है। इसका उल्लेख हमारे ग्रन्थों में भी है। इसके कई वैज्ञानिक आधार और पूरे विश्व के मानने हेतु तर्क भी हैं। सम्राट विक्रमादित्य के काल में ज्ञान की यही परंपरा उत्तरोत्तर अग्रसर होती रही। आज से 3000 वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का जो रूप था आज भी वह मूलतः वैसा ही है। दुनिया में अनेक सभ्यताओं ने जन्म लिया किंतु काल ने उन्हें ध्वस्त कर दिया। केवल भारत ही एक ऐसा देश है जिसका अतीत कभी मरा नहीं। वह बराबर वर्तमान के रथ पर चढ़कर भविष्य की तरफ अग्रसर रहा। भारत का अतीत कल भी जीवित था वह आज भी जीवित है और आगे भी रहेगा। विक्रमकालीन ग्रंथों के अध्ययन से हम उस समय के हिंदू मस्तिष्क का अनुमान लगा सकते हैं जिसने हिंदू धर्म को नव जीवन प्रदान किया। एक से बढ़कर एक विद्वान हुए जिन्होंने ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में खोज करके जिस साहित्य की सृष्टि की वह आज भी प्रशंसनीय है तथा आज के विद्वान भी उससे सहायता प्राप्त करते हैं। विक्रमादित्य के काल में ज्ञान, विज्ञान, कला एवं साहित्य में जो पथ प्रशस्त हुआ वह अभूतपूर्व था। गुप्तकाल में विज्ञान के विकास का पता चलता है। गुप्तकालीन विज्ञान के अंतर्गत मुख्यतः गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद का विकास हुआ। आर्यभट्ट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त गुप्तकालीन वैज्ञानिक हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थों में विज्ञान की विवेचना की। आर्यभट्ट का प्रसिद्ध ग्रन्थ आर्यभट्टीयम् है। उसने गणित को अन्य विषयों से मुक्त कर स्वतंत्र रूप दिया। उसके अन्य ग्रन्थ दशगीतिक सूत्र और आर्याष्टशतक हैं। आर्यभट्ट ने पृथ्वी को गोल बताया और उसकी परिधि का अनुमान किया। इस प्रकार आर्यभट्ट विश्व के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह स्थापित किया कि पृथ्वी गोल है। आर्यभट्ट ने ग्रहण का राहु–ग्रास वाला जन विश्वास गलत सिद्ध कर दिया। उसके अनुसार चन्द्रग्रहण चन्द्रमा और सूर्य के मध्य पृथ्वी के जाने और उसकी चन्द्रमा पर छाया पड़ने के कारण लगता है। उसकी इन धारणाओं का वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त ने खण्डन किया। आर्यभट्ट ने दशमलव प्रणाली की भी विवेचना की। आर्यभट्ट का शून्य तथा दशमलव सिद्धान्त सर्वथा नयी देन थी। संसार के गणित इतिहास में आर्यभट्ट का महत्वपूर्ण स्थान है। उसने वर्षमान निकाला जो कि टालेमी द्वारा निकाले हुए काल से अधिक वैज्ञानिक है। आर्यभट्ट के बाद दूसरा प्रसिद्ध गुप्तकालीन गणितज्ञ एवं ज्योतिषी वराहमिहिर है। उसने यूनानी और भारतीय ज्योतिष का समन्वय करके रोमक तथा पौलिश के नाम से नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिससे भारतीय ज्योतिष का महत्व बढ़ा। उसके छः ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं– पंथ सिद्धान्तिका, विवाहपटल, योगमाया, बृहत्संहिता, वृहज्जातक और लघुजातक। पंचसिद्धांतिका में पाँच प्राचीन सिद्धान्तों (पैताभट्ट सिद्धान्त, वशिष्ट सिद्धान्त, सूर्य सिद्धान्त, पौलिश सिद्धान्त तथा रोमक सिद्धान्त) को बताया गया है। वराहमिहिर ने ज्योतिष शास्त्र को तीन शाखाओं में विभाजित किया– तंत्र (गणित और ज्योतिष), होरा (जन्मपत्र) और संहिता (फलित ज्योतिष)। वराहमिहिर के बृहज्जातक को विज्ञान और कला का विश्वकोश माना गया है। वराहमिहिर के पुत्र पृथुयश ने भी फलित ज्योतिष पर षट्पञ्चशिका ग्रन्थ की रचना की। आचार्य कल्याण वर्मा भी प्रमुख ज्योतिषाचार्य थे जिनका काल 600 ई. के लगभग माना गया है। इन्होंने यवन–होराशास्त्र के संकलन के रूप में सारावली नामक ग्रन्थ की रचना की। प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों ने अश्व, गज, गौ, मृग, शेर, भालू, गरुड़, हंस, बाज आदि से सम्बन्धित विस्तृत अध्ययन किया। विभिन्न ग्रन्थों में इनका विवरण उपलब्ध है। पालकाप्य कृत गजचिकित्सा, बृहस्पति कृत गजलक्षण आदि ग्रन्थ पशु चिकित्सा पर हैं। वाग्भट्ट भी गुप्तकालीन रसायनशास्त्री थे जिनका ग्रन्थ रसरत्न समुच्चय भी उल्लेखनीय है। आयुर्वेद यद्यपि बहुत पुराना है तथापि इस पर गुप्त काल में ग्रन्थ लिखे गये। आयुर्वेद से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण रचनाओं का प्रणयन हुआ। नालंदा विश्वविद्यालय में ज्योतिष और आयुर्वेद का अध्ययन होता था। चीनी यात्री इत्सिंग ने तत्कालीन भारत में प्रचलित आयुर्वेद की आठ शाखाओं का उल्लेख किया है। नवनीतकम् नामक ग्रन्थ भी है। इसमें प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों का सार है। इसमें रसों, चूर्णों, तेलों आदि का वर्णन है। इसके अलावा बच्चों के रोग और निदान भी इसमें मिलते हैं।

समुद्री लहरों का वैभवशाली अतीत

मनीष रत्नपारखी

भारत का समुद्री इतिहास बेहद समृद्ध रहा है। समुद्री क्रियाकलापों सम्बन्धी बातों का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद में मिलता है। भारतीय पुराणों में महासागर, समुद्र और नदियों से जुड़ी हुई ऐसी कई घटनाएँ मिलती हैं जिससे इस बात का पता चलता है कि मानव को समुद्र और महासागर रूपी सम्पदा से बहुत लाभ हुआ है। भारतीय साहित्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला और पुरातत्व विज्ञान से प्राप्त कई साक्ष्यों से भारत की समुद्री परंपराओं का अस्तित्व प्रामाणित होता है। हिंदुस्तान के समुद्री इतिहास का अध्ययन करने से इस बात का पता चलता है कि प्राचीन काल से लेकर 13वीं शताब्दी तक हिन्द महासागर पर भारतीय उप महाद्वीप का वर्चस्व कायम रहा। राजनीतिक कारणों से अधिक व्यापार के लिए भारतीय समुद्री रास्तों का प्रयोग करते थे। इस प्रकार 16वीं शताब्दी तक का काल देशों के मध्य समुद्र के रास्ते होने वाले व्यापार, संस्कृति और परंपरागत लेन–देन का गवाह रहा है। हिन्द महासागर को हमेशा एक विशेष महत्व का क्षेत्र माना जाता रहा है। भारत के समुद्री इतिहास का आरंभ 3000 ई.पू. से होता है। इस दौरान, सिंधु घाटी सभ्यता के निवासियों का समुद्री व्यापार मेसोपोटामिया के साथ होता था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार इस काल में समुद्री गतिविधियों में अच्छी प्रगति हुई। लोथल (अहमदाबाद से लगभग 400 कि.मी. दक्षिण पश्चिम दिशा में स्थित) में शुष्क गोदी की खोज से यह पता चला है कि ज्वार भाटा, पवनों और अन्य समुद्री कारक उस काल में भी विद्यमान थे। लोथल की यह गोदी 2400 ई.पू. की है और इसे विश्व की प्रथम ऐसी सुविधा मानी जाती है जिस पर पोतों के आश्रय और उनकी मरम्मत की सुविधा थी। वैदिक साहित्य में नौकाओं, पोतों और समुद्री यात्राओं का उल्लेख कई बार आया है। अभिलेख की बात करें तो ऋग्वेद वह सबसे पुराना साक्ष्य है जिसके अनुसार वरुण समुद्र के देवता हैं और पोतों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले महासागरीय मार्गों का उन्हें ज्ञान था। ऋग्वेद में इस बात का उल्लेख है कि व्यापार और धन की खोज में व्यापारी महासागर के रास्ते दूसरे देश में जाया करते थे। महाकाव्य रामायण और महाभारत में भी पोतों और समुद्री यात्राओं का वर्णन है। यहाँ तक कि पुराणों में भी समुद्री यात्राओं की कथाएँ वर्णित हैं। नंद और मौर्य काल में बड़े पैमाने पर समुद्री व्यापार गतिविधियाँ हुईं जिनसे अनेक राष्ट्र और भारत के बीच नजदीकियाँ बढ़ीं। इससे भारत की संस्कृति और धार्मिक विश्वासों का प्रचार–प्रसार अन्य देशों में हुआ। मौर्य वंश की समुद्री गतिविधियों के चलते भारतीय इंडोनेशिया और आस–पास के द्वीपों पर जाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस काल में भारत पर सिकंदर ने आक्रमण किया। यूनान और रोम के साहित्यिक अभिलेखों से नंद और मौर्य साम्राज्यों के दौरान समुद्री व्यापार होने के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। यूनान के मानव विज्ञानी और चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में मकदूनिया के दूत रहे मेगस्थनिज ने उस दौरान पाटलिपुत्र में सशस्त्र सेनाओं के प्रशासन का वर्णन किया है। और एक विशेष समूह के होने की बात कही है जो समुद्री–युद्ध के विभिन्न पहलुओं को देखा करता था यही कारण है कि मगध साम्राज्य की जल सेना को साक्ष्य के आधार पर विश्व की प्रथम जल सेना होने की संज्ञा दी जाती है। चंद्रगुप्त के मंत्री चाणक्य ने अर्थशास्त्र की रचना इसी काल में की। अर्थशास्त्र में 'युद्ध कार्यालय' के रूप में स्थापित एडमिरल्टी डिवीजन का भी उल्लेख है जिसे महासागरों, झीलों और समुद्रों में नौचालन की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। मौर्य शासन के दौरान रखी जाने वाले विभिन्न प्रकार की नौकाओं और उनके प्रयोजन की विस्तृत जानकारी भी इस पुस्तक में उपलब्ध है। अशोक के शासन काल में मौर्य साम्राज्य लगभग पूरे भारतीय उपमहाद्वीप तक फैला था और उसके व्यापारिक सम्बन्ध श्रीलंका, मिस्र, सीरिया और मकदूनिया के साथ थे। अशोक के प्रिय कार्यों में से एक था–बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार–प्रसार। अशोक के पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए पश्चिम बंगाल के ताम्रलिटित से समुद्र के रास्ते श्रीलंका जाते समय उपहार के तौर पर अपने साथ पवित्र बरगद वृक्ष का एक पौधा ले गए थे। अशोक ने दक्षिण–पूर्व एशिया में समुद्र के रास्ते कई साम्राज्यों में अपने दूत भी भेजे थे। सातवाहनों ने दक्कन क्षेत्र में शासन किया और उनका साम्राज्य आज के कर्नाटक, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और गुजरात के सौरास्ट्र के हिस्सों तक फैला हुआ था। बंगाल की खाड़ी से लगे भारत के पूर्वी तट पर उनका नियंत्रण था और रोम साम्राज्य के साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध काफी अच्छे थे। सातवाहन भारतीय मूल के प्रथम शासक हुए जिन्होंने अपने सिक्कों पर पोत अंकित किये दक्षिण–पूर्व एशिया के विभिन्न भागों में समुद्र के रास्ते संस्कृति, भाषा और हिंदू धर्म के प्रचार किये जाने के भी साक्ष्य मिलते हैं। गुप्त साम्राज्य को 'भारत का स्वर्ण युग' कहा जाता है। चंद्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय गुप्त वंश के सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक थे। बोधगया, सारनाथ और वाराणसी में बौद्ध धर्म का अध्ययन करने के उद्देश्य से 399 ई. में भारत आए चीन के संन्यासी फाह्यान ने गुप्त साम्राज्य के बारे में आँखों देखा वर्णन किया है। विदेशी व्यापार में विस्तार होने के साथ ही गुप्त काल में सामान्य समृद्धि, आर्थिक प्रगति, सांस्कृतिक अभिवृद्धि, कलात्मक विकास और स्थापत्य कला के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति देखने को मिली। 413 ई. में फाह्यान अपनी मातृभूमि लौटते समय बंगाल मे ताम्रलिटित से जलमार्ग के रास्ते रवाना हुआ और 14 दिनों के बाद सिलोन पहुँचकर जावा के लिए पोत द्वारा निकोबार और मलक्का के जलडमरूमध्य को पार करते हुए

प्रशांत महासागर पहुँचा। फाह्यान की रचनाओं से यह प्रमाणित होता है कि ईसा काल के आरम्भिक वर्षों में महासागरीय नौचालन भलीभाँति विकसित था। 633–645 ई. के बीच भारत का भ्रमण करने वाले एक अन्य चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी इस बात का आँखों देखा वर्णन किया है कि गुप्त काल के दौरान अन्य देशों के साथ हमारा व्यापार बड़े पैमाने पर हो रहा था। इस काल के दौरान खगोल विज्ञान के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। इतिहास में महान खगोलविद् के रूप में प्रसिद्ध आर्यभट्ट और वराहमिहिर जैसे विद्वानों का सम्बन्ध भी इसी काल से था। खगोलीय पिण्डों की माप इस काल में सही ढंग से होने लगी और ज्ञात तारों की मदद से स्थिति के अनुमानित आकलन के आधार पर महासागरीय नौचालन कला की शुरुआत हो गई। इस काल के दौरान, पूर्व और पश्चिम में कई पत्तनों का निर्माण किया गया जिनसे यूरोप और अफ्रीका के देशों के साथ हमारे समुद्री व्यापार बड़े पैमाने पर पुनः शुरू हुए। चोल, चेर और पाण्ड्य भारतीय प्रायद्वीप की बड़ी शक्तियाँ थीं। इन शासकों ने सुमात्रा, जावा, मलय प्रायद्वीप, थाईलैंड और चीन के स्थानीय शासकों के साथ समुद्री व्यापारिक रिश्ते मजबूत कर लिए थे। समुद्री यात्राओं के दौरान मौसमी पावनों का ज्ञान भी विकसित हुआ। चोल राजवंश के शासन काल में समुद्री व्यापार विस्तृत पैमाने पर होता था और इस काल में आवास भण्डार ग्रहों और वर्कशॉप वाले नए पत्तनों की स्थापना हुयी। अपने व्यापारिक पोतों की सुरक्षा में लगी शक्तिशाली नौसेना की सहायता के लिए भारतीय तटों के किनारे पोतों की मरम्मत के लिए यार्ड, गोदी और लाइट हाउस बनाये गये थे। भारत के पूर्वी समुद्र तटीय भाग और सुदूर पूर्व के बीच फैले श्री विजय साम्राज्य के दौरान पाँच से बारहवीं शताब्दी के बीच हिंदू धर्म और भारतीय संस्कृति का प्रचार प्रसार हुआ। श्री विजय साम्राज्य, सांस्कृतिक और व्यापारिक अभियान का परिणाम यह हुआ कि वे सुमात्रा, बर्मा, मलय प्रायद्वीप, जावा, थाईलैंड, और इंडोनेशिया जैसे सुदूरवर्ती देशों के संपर्क में आये। भारत, अरब और चीन के व्यापारी वर्ग उत्कृष्ट सुविधाओं वाले पत्तनों की ओर आकर्षित हुए। चोलों, तमिल राजाओं और श्री विजय साम्राज्य के बीच आपसी मतभेदों के कारण 10वीं शताब्दी के अंत में उनकी जलसेनाओं के मध्य कई समुद्री लड़ाईयाँ लड़ी गयी और नतीजतन ये साम्राज्य कमजोर हो गये तथा इस क्षेत्र में अरबों को अपना प्रभुत्व स्थापित करने का मौका मिला। 1007 ई. में चोलों ने श्री विजय को हराकर मलय प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा और कुछ पड़ोसी द्वीपों पर शासन किया। पांड्य राजवंश में प्रसिद्ध नाविक और समुद्री व्यापारी थे जिनके सम्बन्ध रोम साम्राज्य और पश्चिम में मिस्र से लेकर पूर्व में चीन तक फैले थे भारत की दक्षिणी तटरेखा पर किये जाने वाले मोती के उत्पादन उनके नियंत्रण में था। यूनान और रोम के साथ 12वीं शताब्दी में चेर साम्राज्य के व्यापारिक सम्बन्ध बहुत फले फूले। वे अपना नौचालन अरब सागर से मिलने वाली नदियों के जरिए करते थे। वे टिंडीज (कोच्चि के नजदीक आज के पेटीयापत्तनम) और मुजरिस (कोच्चि के ही नजदीक आज के पत्तनम) से अरब के पतनों तक सीधा अपने पोतों को ले जाने के लिए मानसूनी पवनों का प्रयोग करते थे। विजयनगर साम्राज्य ने दक्षिण पूर्व एशिया के विभिन्न भागों के साथ मजबूत रिश्ते बना लिये और इस प्रकार भारत की संस्कृति और परंपरा को फैलाया। दक्षिण पूर्व एशिया में आज भी इसका प्रभाव देखने को मिलता है जहाँ अनेक स्थानों और लोगों के नाम भारतीय मूल के हैं इस क्षेत्र में हिंदू और बौद्ध दोनों धर्मों, संस्कृतियों और वास्तुकला को फैलने में भी इन साम्राज्यों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। 8वीं शताब्दी तक अरब लोग व्यापारी वर्ग के रूप में समुद्र के रास्ते बड़ी संख्या में भारत आने लगे थे। कुछ समय के बाद, आज के पश्चिम एशिया के कई भाग यूरोप, दक्षिण पूर्व एशिया और भारत के बीच व्यापार के केन्द्र बिन्दु बन शीघ्र ही, अरबों ने व्यापार मार्गों पर नियंत्रण रखना शुरू कर दिया और पश्चिम तथा पूर्व के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाने लगे। 900ई. से 1300 ई. तक के काल को दक्षिण पूर्व एशिया में समुद्री व्यापार का आरम्भिक युग माना जाता है। मुगलों ने उत्तर भारत के अधिकांश भागों पर शासन किया। भू–संसाधनों से पर्याप्त राजस्व प्राप्त होने के कारण उन्होंने समुद्री मामलों पर विशेष ध्यान नहीं दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अरबों का हिंद महासागर में व्यापार पर एकाधिकार स्थापित हो गया। पूरब में हिन्दुस्तान के नाम से प्रसिद्ध समृद्ध भूमि के बारे में सुनकर यूरोप के कई देशों को यह लगा कि व्यापार के लिए उन्हें किसी सीधे समुद्री मार्ग की तलाश करनी चाहिए। इसमें सबसे पहले पुर्तगाल को सफलता मिली और भारतीय तटों पर पहुँचने वाला वह प्रथम यूरोपियन देश बन गया। 16वीं शताब्दी को एक महत्वपूर्ण सदी माना जाता है। इस शताब्दी से पहले, हिंद महासागर के शांत जल में सक्रिय और समृद्ध वाणिज्यिक व्यापार होता था जिसमें पूर्व अफ्रीका के अधिकतर तटीय और समुद्री समुदायों से लेकर मलेशिया और इंडोनेशिया द्वीप तक के लोग सक्रिय रूप से भाग लेते थे। वास्को डी गामा (1400–1524) पुर्तगाल का अन्वेषक था। जिसने पुर्तगाल से भारत तक के महासागरीय मार्ग की खोज की। पुर्तगाल से जल यात्रा शुरू कर उसने अफ्रीका के 'केप ऑफ गुड होप' का चक्कर लगाया और तब जाकर मई 1498 में वह केरल के कालिक पहुँचा। उसके आगमन से भारत के समुद्री इतिहास में एक नए अध्याय की शुरुआत हुयी। पूरे हिन्द महासागर पर नियंत्रण रखने की रणनीति बनाने वाले पुर्तगाली व्यापारियों के आगमन से शांतिपूर्ण ढंग से हो रहे समुद्री व्यापार में बाधा उत्पन्न हुई। पुर्तगालियों ने कालिकट, कोचीन, गोवा, सूरत और पश्चिमी तट पर स्थित अन्य पत्तनों के समीप कारखानें स्थापित किये। उन्होंने हर्मुज, सोकोट्रा अदन और मलक्का जैसे महत्वपूर्ण पत्तनों का नियंत्रण अपने हाथों में ले लिया। ऐसा उन्होंने हिन्द महासागर से हो रहे व्यापार पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए किया। इससे हिन्द महासागर क्षेत्र में होने वाले व्यापार पर अरबों के एकाधिकार समाप्त हो गया।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

संस्कृति के चार अध्याय

''यह संभव है कि संसार में जो बड़ी–बड़ी ताकतें काम कर रही हैं, उन्हें हम पूरी तरह न समझ सकें, लेकिन इतना तो हमें समझना चाहिए कि भारत क्या है और कैसे इस राष्ट्र ने अपने सामाजिक व्यक्तित्व का विकास किया है, उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू कौन–से हैं और उसकी सुदृढ़ एकता कहाँ छिपी है।

भारत में बसने वाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारत के समस्त मन और विचारों पर उसी का एकाधिकार है। भारत आज जो कुछ है, उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। यदि हम बुनियादी बात को नहीं समझ पाते तो फिर हम भारत को भी समझने में असमर्थ रहेंगे और यदि भारत को नहीं समझ सके तो हमारे भाव, विचार और काम, सब–के–सब अधूरे रह जाएँगे और हम देश की ऐसी कोई सेवा नहीं कर सकेंगे, जो ठोस और प्रभावपूर्ण हो।'' यह एक छोटा सा हिस्सा है संस्कृति के चार अध्याय राष्ट्रकवि स्वर्गीय रामधारी सिंह दिनकर की एक बहुचर्चित पुस्तक का। जिसे साहित्य अकादमी ने सन् 1956 में न केवल पहली बार प्रकाशित किया अपितु आगे चलकर उसे पुरस्कृत भी किया। इस पुस्तक में दिनकर ने भारत के सांस्कृतिक इतिहास को चार भागों में बाँटकर उसे लिखने का प्रयत्न किया है। वे यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि भारत का आधुनिक साहित्य प्राचीन साहित्य से किन–किन बातों में भिन्न है और इस भिन्नता का कारण क्या है? उनका विश्वास है कि भारतीय संस्कृति में चार बड़ी क्रान्तियाँ हुई हैं और हमारी संस्कृति का इतिहास उन्हीं चार क्रान्तियों का इतिहास है।

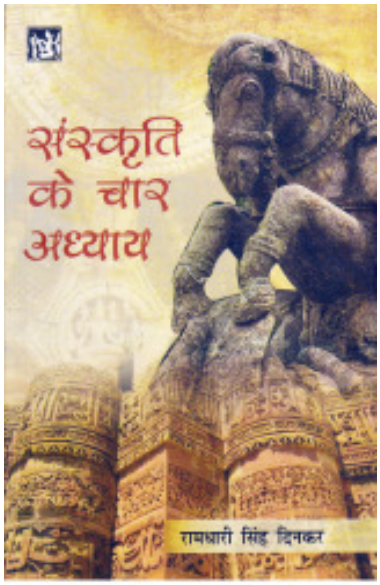

पहली क्रान्ति तब हुई, जब आर्य भारतवर्ष में आये अथवा जब भारतवर्ष में उनका आर्येतर जातियों से सम्पर्क हुआ। आर्यों ने आर्येतर जातियों से मिलकर जिस समाज की रचना की, वही आर्यों अथवा हिन्दुओं का बुनियादी समाज हुआ और आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों के मिलन से जो संस्कृति उत्पन्न हुई, वही भारत की बुनियादी संस्कृति बनी। इस बुनियादी भारतीय संस्कृति के लगभग आधे उपकरण आर्यों के दिए हुए हैं। और उसका दूसरा आधा आर्येतर जातियों का अंशदान है। देश आर्यों के आगमन के पूर्व से ही अहिंसक, अल्पसंतोषी और सहिष्णु रहता आया था। आर्यों ने आकर यहाँ भी जीवन की धूम मचा दी, प्रवृत्ति और आशावाद के स्वर से सारे समाज को पूर्ण कर दिया। किन्तु, जब उनका यज्ञवाद भोगवाद का पर्याय बनने लगा और आमिषप्रियता से प्रेरित ब्राह्मण जीव–हिंसा को धर्म मानने लगे, इस देश की संस्कृति यज्ञ और जीव–घात, दोनों से विद्रोह कर उठी। महावीर और बुद्ध भारत की इसी सनातन संस्कृति के उद्घोष थे। दूसरी क्रान्ति तब हुई, जब महावीर और गौतम बुद्ध ने इस स्थापित धर्म या संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह किया तथा उपनिषदों की चिन्ताधारा को खींच कर वे अपनी मनोवांक्षित दिशा की ओर ले गये। इस क्रान्ति ने भारतीय संस्कृति की अपूर्व सेवा की, अन्त में इसी क्रान्ति के सरोकार में शैवाल भी उत्पन्न हुए और भारतीय धर्म तथा संस्कृति में जो गँदलापन आया वह काफी दूर तक, उन्हीं शैवालों का परिणाम था। तीसरी क्रान्ति उस समय हुई जब इस्लाम के विजेताओं ने धर्म को भारत में विस्तार दिया और देश में हिन्दुत्व के साथ उसका सम्पर्क हुआ और चौथी क्रान्ति हमारे अपने समय में हुई, जब भारत में यूरोप का आगमन हुआ तथा उसके सम्पर्क में आकर हिन्दुत्व एवं इस्लाम दोनों ने नव–जीवन का सम्भव किया। इस पुस्तक में इन्हीं चार क्रान्तियों का संक्षिप्त इतिहास है। हमारे आचरण की तुलना में हमारे विचार और उद्गार इतने ऊँचे हैं कि उन्हें देखकर आश्चर्य होता है। बातें तो हम शान्ति और अहिंसा की करते हैं, मगर काम हमारे कुछ और होते हैं। सिद्धान्त तो हम सहिष्णुता का बघारते हैं, लेकिन भाव हमारा यह होता है कि सब लोग वैसे ही सोचें, जैसे हम सोचते हैं और जब भी कोई हमसे भिन्न प्रकार से सोचता है, तब हम उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। घोषणा तो हमारी यह है कि स्थितप्रज्ञ बनना अर्थात् कर्मों के प्रति अनासक्त रहना हमारा आदर्श है, लेकिन काम हमारे बहुत नीचे के धरातल पर चलते हैं और बढ़ती हुई अनुशासनहीनता हमें, व्यक्तिगत और सामाजिक, दोनों ही क्षेत्रों में नीचे ले जाती है। पुस्तक की भूमिका में रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं, 'उत्तर–दक्षिण पूर्व पश्चिम देश में जहां भी जो हिन्दू बसते है। उनकी संस्कृति एक है एवं भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय विशेषता हमारी इसी सामाजिक संस्कृति की विशेषता है। पुस्तक भी उसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com